शोध संचयन
A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research
ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net
Vol. 10
Issue 2
15 July 2019

साहित्य का समकालीन धर्म

बीज शब्द :

संस्कृति, चित्तवृत्ति, अस्मिताबोध, कल्पनाशीलता, जातीयता।

आरम्भ से ही जैसे-जैसे मानव समाज का भौगोलिक और परिवेशगत विस्तार होता गया उसके परिवेश और संस्कृतियों में विविधता आती गयी। संस्कृति का भाषा पर पूरा अधिकार होता है। अत: अलग-अलग संस्कृतियाँ शुरू से ही विविध रूपात्मक रहीं। इससे यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि किसी भी समाज की संस्कृति भाषा और उसके विचारों का एक अनिवार्य त्रिभुज बनता है जिसके भीतर उस समाज के जीवन का चित्र और चरित्र अवस्थित रहता है। यदि इस त्रिभुज की कोई एक भी भुजा बदल दी जाये अर्थात् भाषा, संस्कृति और विचार में से कोई एक भी चीज अन्य समाज की हो तो असंगत पैदा हो जायेगी और इस असंगत का असर तीनों पर पड़ते हुए जीवन पर पड़ेगा। इतिहास गवाह है कि व्यापारिक और राजनैतिक कारणों से यह असंगत पड़ती रही है जिसके परिणामस्वरूप भाषायी और सांस्कृतिक संक्रमण की स्थितियाँ उत्पन्न होने के कारण भाषा और संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन भी देखे गये हैं। इस संक्रमण से समाज की संस्कृतियों का आदान-प्रदान भी हुआ, जिसके कारण भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता बढ़ी भी है। लिखने बोलने में सार्थक और स्पष्ट वाक्य विन्यास तक पहुँचने में मानव को लम्बा समय लगा और इस लम्बे समय में उसके सोचने के तौर-तरीके ने ही उसे जातीय पहचान भी दी।

*****

डॉ० सत्येन्द्र कुमार दुबे
एसोसिएट प्रोफेसर- हिन्दी
युवराजदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय
लखीमपुर-खीरी
मो0नं0- 8127577118

साहित्य का समकालीन धर्म

पुस्तकें मानव सभ्यता की सर्वोत्तम उपलब्धि हैं। यदि विषय-वस्तु या विचार तत्त्व पुस्तक की आत्मा है, तो भाषा पुस्तक का श्वास-समीर है। चूँकि भाषा और समाज का सांस्कृतिक सम्बन्ध होता है, अतः पुस्तक अपने समाज का सांस्कृतिक दस्तावेज होती है। अलग-अलग समय में सृजित पुस्तकों की भाषा मात्र से उस समाज की संस्कृति के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है। समाज में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं उसका प्रभाव उस समाज के भाषा-साहित्य के स्वरूप पर भी पड़ता है। रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को जनता की चित्तवृत्ति के रूप में देखा-परखा है- ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का समुचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।''[1]

अपने प्राकृतिक और मूलरूप को छोड़कर जब मनुष्य ने अपने जीवन के लिए प्रकृति की व्यवस्था से अलग सोचना शुरू किया, तो सबसे पहले उसका परिचय उत्पादन से हुआ। यह उत्पादन उसने प्रकृति से ही कच्चा माल लेकर शुरू किया। निर्माण की बुद्धि की तेजी पाते ही उसने अपने रहने के लिए मानवेतर जगत का निर्माण करना शुरू किया, जहाँ उसने भोजन, पानी, छाया, मनोरंजन, सेवा और चिकित्सा तक की व्यवस्था में प्रवेश करने के साथ ही विधि की रचना की और विधिवत समाज बनाया। सोच, उत्पादन और मनोरंजन से समाज जब पहली बार स्वावलम्बी हुआ होगा, तो उसे चाँद पर नहीं बल्कि सूर्य पर यान उतारने जैसी उपलब्धि का सुख मिला होगा और इस प्रसन्नता के केन्द्र में रही है उसकी भाषा। प्रकृति की व्यवस्था के समानान्तर अपनी व्यवस्था खड़ा करने में सफल मनुष्य ने उत्पादन या निर्माण में मस्तिष्क का प्रयोग अधिक किया और इसी के तनाव में भाषा अपना आकार लेती रही। यानी सृजन के तनाव में सोच की स्थिति केन्द्रीय होती है। तनाव की दशा में सोच पीछे-आगे दोनों तरफ चलती है और सोचने का काम भाषा में ही होता है, अतः भाषा के पदार्थ और पद सम्बन्धों का विकास भी इसी प्रारम्भिक दौर में ही तेजी से हुआ। उत्पादन या निर्माण के क्रम में परिकल्पना आधाररूप में रही है तथा परिकल्पना का प्रथम सृजन बिम्ब होता है अतः सोच अथवा चिन्तन और परिकल्पना की लगातार स्थिति बने रहने से बिम्बों के साथ मानव का अपनापन बढ़ता गया। डॉ0 रविनाथ सिंह लिखते हैं- ''जिस प्रकार रचनाकार की भाषा उसकी संवेदना को नियमित- अनुशासित करती है, कुछ वैसा ही सम्बन्ध भाषा और कल्पना का भी है।''[2] अपनी इस प्रगति के प्रति प्रतिबद्धता के कारण मनुष्य ने वार्तालाप की भाषा को समृद्धतर कर लिया तथा कल्पना के विकसित होते जाने से बिम्बों के निर्माण की क्षमता से धीरे-धीरे काम चलाऊ लिपि भी तैयार हो गयी। रामविलास शर्मा भाषा और जीवन की आवश्यकताओं के सम्बन्धों का जिक्र करते हुए कहते हैं- ''मनुष्य ने अपने सूक्ष्म चिन्तन की विशेषता के कारण भाषा-रचना नहीं की। उसके जीवन-यापन की आवश्यकताओं ने उसे ध्वनि-संकेतों का उपयोग करने के लिए विवश किया।''[3]

मनुष्य के जीने का तौर-तरीका उसके परिवेश विशेष से नियंत्रित होता है और जीने के तौर-तरीके से उसकी संस्कृति निर्मित होती है अतः आरम्भ से ही जैसे-जैसे मानव समाज का भौगोलिक और परिवेशगत विस्तार होता गया उसके परिवेश और संस्कृतियों में विविधता आती गयी। संस्कृति का भाषा पर पूरा अधिकार होता है। अतः अलग-अलग संस्कृतियाँ शुरू से ही विविध रूपात्मक रहीं। इससे यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि किसी भी समाज की संस्कृति भाषा और उसके विचारों का एक अनिवार्य त्रिभुज बनता है जिसके भीतर उस समाज के जीवन का चित्र और चरित्र अवस्थित रहता है। यदि इस त्रिभुज की कोई एक भी भुजा बदल दी जाये अर्थात् भाषा, संस्कृति और विचार में से कोई एक भी चीज अन्य समाज की हो तो असंगत पैदा हो जायेगी और इस असंगत का असर तीनों पर पड़ते हुए जीवन पर पड़ेगा। इतिहास गवाह है कि व्यापारिक और राजनैतिक कारणों से यह असंगत पड़ती रही है जिसके परिणामस्वरूप भाषायी और सांस्कृतिक संक्रमण की स्थितियाँ उत्पन्न होने के कारण भाषा और संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन भी देखे गये हैं। इस संक्रमण से समाज की संस्कृतियों का आदान-प्रदान भी हुआ, जिसके कारण भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता बढ़ी है। लिखने बोलने में सार्थक और स्पष्ट वाक्य विन्यास तक पहुँचने में मानव को लम्बा समय लगा और इस लम्बे समय में उसके सोचने के तौर-तरीके ने ही उसे जातीय पहचान भी दी। कालान्तर में यह

जातीयता राजनैतिक नेतृत्व पाकर राष्ट्रबोध और सांस्कृतिक समृद्धि के कारण अस्मिताबोध के भाव में सन गयी।

राजनैतिक नेतृत्व भले ही अपने आरम्भिक रूप में कबीलाई ढंग का रहा हो किन्तु उसे अपने समूह, कबीले याकि राष्ट्र के लिये सर्वमान्य नियम बनाने पड़े होंगे। ये नियम उनके कर्तव्यों को निर्देशित करते रहे और सबके अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ होने के कारण ही वे सर्वमान्य हुये। सर्वमान्यता को चिरकालिक बनाने के लिए कर्तव्य को हमारी चारित्रिक विशेषता अथवा धर्म के रूप में स्वीकार किया गया। चूँकि प्रकृति के दोहन से ही मनुष्य का संसार निर्मित और विकसित हो रहा था, तो प्रकृति को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर धर्म को उससे जोड़ा गया। इस प्रकार प्रकृति की मध्यस्थता में कर्तव्य याकि धर्म ईश्वर से जुड़ गया। यहीं से धीरे-धीरे धर्म अथवा कर्तव्य के आडम्बरों का आरम्भ भी हुआ और समाज व्यवस्था में पाखण्ड का भी प्रवेश हुआ। हालांकि यह वृत्तान्त अलग है और लम्बा भी। किन्तु यह सत्य है कि जंगली जीवन से निकलकर अपना समाज बनाने वाले महान मनुष्य में उसकी आध्यात्मिक-भौतिक शक्तियाँ और मानवीय कमजोरियाँ एक साथ देखने को मिलीं। कामायनी भी इसको स्वीकार करती है-

''विषमता की पीड़ा से व्यस्त, हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही सुख-दुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमय दान।।''[4]

जिसे हम हिन्दी भाषा कहते हैं वह भी सभ्यता के उसी विकास मार्ग से चलती हुयी यहाँ तक पहुँची है। जिस मार्ग के अनिवार्य पड़ाव थे सोच, उत्पादन, कल्पनाशीलता, संस्कृति, धर्म और जातीयता। हिन्दी जाति द्वारा अपनी बौद्धिक और सांस्कृतिक विरासत को लिखित रूप में सहेजे जाने का प्रमाण ईसा से हजारों वर्ष पूर्व से प्राप्त होता है। किन्तु अपनी लिपि और भाषा सम्बन्धी विधिवत चिन्तन ईसा से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पुराना है। वैदिक साहित्य को हिन्दी जाति का तार्किक विवेचनयुक्त आदि बौद्धिक सृजन माना जाना चाहिए। उससे पहले जो कुछ था उसमें तर्क के बजाय कल्पना और अनुमान की प्रधानता अधिक रही। वैदिक साहित्य ने जीवन का जो मार्ग दिखाया उससे हिन्दी जाति की संस्कृति को एक स्थायी और स्पष्ट आकार भी मिला। जीवन और जगत के साथ सांस्कृतिक छवियों को रचने वाले वैदिक साहित्य के बाद के लौकिक साहित्य में जीवन और जगत का जो कुछ वास्तविक और काल्पनिक चित्र। है उसका आधार वैदिक साहित्य ही है।

यह सर्व ज्ञात है कि जैसे-जैसे भाषा को व्याकरण या शास्त्र के नियमों, उपनियमों में बाँधा गया वैसे-वैसे वह इधर-उधर कहीं से नियमों के तटबंध तोड़कर विकसित होती रही है। यह विकास उनके द्वारा हुआ है जो समाज के साधारणजन थे। ये ही जन कहे जाते हैं। ये भाषा के शास्त्र नहीं जानते हैं। उन जन के पास भी भाषा का कोई शास्त्र नहीं था जो आदिम समय में भाषा को रच रहे थे। अत: स्पष्ट है कि भाषा का विकास साधारणजन याकि जन के द्वारा ही होता है। इस जन को जितना और जिस रूप में विचलित किया जायेगा भाषा उतनी विचलित होगी।

राज्यों के पूरी तरह स्थापित हो जाने के बाद प्राकृतिक सम्पदाओं के उपभोग और अधिकार को लेकर साम्राज्यवाद का उदय हुआ। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की आदि जाति के रूप में अरबों को चिह्नित किया जाता है। जंगल से निकलकर संघर्ष के बाद प्रकृति के दोहन का कौशल सीखते हुए स्वावलम्बी बना मनुष्य उपार्जितों की लेन-देन करते-करते कब छीना-झपटी में लग गया, देखते-देखते यह सब हो गया और पता भी न चला। मिल-जुलकर प्रकृति से संघर्ष करने वाला मनुष्य अब आपस में संघर्ष करने के युग में प्रवेश कर गया था।

चूँकि भारतवर्ष प्राकृतिक सुविधा और समृद्धि से भरा-पूरा था, अत: यहाँ बौद्धिक प्रगति अधिक होती रही तथा बौद्धिकजन आमजन के बीच जाकर दर्शन आदि की प्रतिष्ठा करते रहे। अत: थोड़े-थोड़े समय पर जन भाषाओं का तेजी से विकास हुआ। जनता के बीच हमारे बौद्धिकों के अधिक रहने से जनता को जीवन और जगत के प्रति नयी दृष्टि मिलती थी। इसलिए जनता में साहित्य और शिक्षा के प्रति लगाव बढ़ा। वैदिक संस्कृति से लेकर अपभ्रंष काल तक भाषा और साहित्य के विकास में जन का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। हिन्दी जाति का साहित्य वैदिक काल से लेकर आज तक जन-जीवन के चित्रों से भरा पड़ा है। हिन्दी भाषा और साहित्य में प्राचीन काल से चाहे वह राज्याश्रय में रचे गये चाहे कुटियों में, उनमें जनता का ही जीवन प्रमुख रूप से है। संस्कृत व्याकरण के प्रतिरोध में चल पड़ने वाली जनशक्ति ने आज तक थमने का नाम नहीं लिया। किन्तु इतिहास में जहाँ भारतीय जन को विदेश चुनौती मिली, वहाँ ये अपने भाषाशास्त्र और साहित्यशास्त्र के गाण्डीव और तरकसों की साफ-सफाई में लग गये।

हिन्दी भाषा को राजनीतिक दासता की दो बड़ी चुनौतियाँ मिली हैं। एक विदेशी इस्लामिक शक्ति से और दूसरी अंग्रेज़ी शक्ति से। राजनीतिक दासता के समय में भाषा को संक्रमित करने वाले दो बड़े कारक होते हैं, एक राजभाषा और दूसरा सत्ता का साहित्य। समूची भारतीय सभ्यता की पड़ताल की जाये तो यह तथ्य मिलने की सम्भावना है कि दसवीं शताब्दी पार करने के बाद सत्ता के प्रति आकर्षित होने के कारण हिन्दी जाति की संस्कृति में भाषिक विचलन और भाषा में सांस्कृतिक विचलन दिखाई दिये। यह हमारी सभ्यता के साथ कदाचित प्रथम और सबसे बड़ी दुर्घटना थी। यही कारण था कि संस्कृति और भाषाशास्त्र के पण्डितों को जनता के बीच जाकर उनकी भाषा में सांस्कृतिक जागरण के लिए भक्ति साहित्य रचना पड़ा और भक्ति को एक आन्दोलन का रूप देना पड़ा। अस्मिताबोध से भरकर समाज और जन फिर से जीवित हो उठा था। जन की भूमिका को रेखांकित करते हुए डॉ0 प्रेमशंकर ने लिखा है- ''क्लासिकी भाषा अरबी, तुर्की, फारसी अथवा संस्कृत के स्थान पर देशी भाषाओं के उदय से पंडित, अभिजात वर्ग का रचना के क्षेत्र में एकाधिकार समाप्त हुआ और सर्जन की नयी दिशायें खुलने लगीं।''[5] इसके आगे जब राजनीतिक दुर्दशा के समय में सत्ता की भाषा और साहित्य ने हिन्दी भाषा और साहित्य को संक्रमित करना शुरू किया तो ऐसे में आचार्यत्व की गरिमा से भरे हुए लक्षण ग्रन्थकारों ने अपनी जातीय परम्परा का साहित्यबोध कराते हुए हिन्दी के कवियों के लिए जातीय परम्परा में सृजन करने का वातावरण बनाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अरबी-फारसी तो फीकी पड़ ही गयी, साथ ही अपने जातीय साहित्यशास्त्र का सम्बल पाकर हिन्दी ने भाषा और साहित्यशिल्प के रूप में अपना स्वर्णयुग स्थापित किया। रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं- ''रीतिकाल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुयी। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची, उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था हो जानी चाहिए थी....।''[6]

भारत में अंग्रेज़ी शासन के दौर में हिन्दी-उर्दू का विवाद तो खड़ा ही हुआ साथ ही अंग्रेज़ी भाषा का भी प्रभाव हिन्दी पर दिखाई देने लगा। भाषा को लेकर एक तीसरा संकट भी दिखाई दिया कि छापेखाने की उपलब्धि होने से खड़ी बोली हिन्दी गद्य का तेजी से विकास तो हुआ किन्तु साहित्यकारों की खड़ी बोली में एकरूपता न थी। खड़ी बोली में हिन्दी-उर्दू का विवाद अलग था साथ ही भाषा संरचना में बोलियों का प्रभाव भी था। इस तिहरे संकट से उबरने के लिए भारतेन्दु ने ऐतिहासिक प्रयास किया। रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं- ''जब भारतेन्दु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाये तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।''[7] यह सच है कि भारतेन्दु ने हिन्दी की जातीय जड़ों से तन्तु लेकर हिन्दी को नये चाल में ढाला। आगे महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के स्वरूप और भाषा को अपने जातीय जड़ों से जोड़ते हुए उसे आधुनिकता की चेतना से भी सम्पन्न किया। इन दोनों ही युग पुरूषों के प्रयासों से हिन्दी भाषा और साहित्य अपनी अस्मिता सम्भाले हुए विदेशीयता और विजातीयता से अलग होकर हिन्दी भाषा और साहित्य को स्वाधीन चेतना के साथ पल्लवित किया है।

साहित्य में जो जीवन होता है उसका चित्रांकन करने वाले लेखक या रचनाकार का जो समाज होता है, जो उसकी संस्कृति या जातीयता होती है उसी के हिसाब से साहित्य के जीवन या विषयवस्तु और भाषा का रूप-स्वरूप भी निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए यदि हिन्दी जाति का व्यक्ति अंग्रेज़ी भाषा में साहित्य रचना करता है तो वह अंग्रेज़ी साहित्य नहीं होगा, वह अंग्रेज़ी भाषा में लिखा हुआ हिन्दी साहित्य का रूप होगा। क्योंकि उसके द्वारा सृजित साहित्य की भाषा भर अंग्रेज़ी है, उसके साहित्य में जो जीवन और जगत है उसका निर्माण रचनाकार के जातीय संस्कारों और अनुभवों से होता है। यही कारण है कि भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयासों से हिन्दी साहित्य के बहाने हिन्दी जाति की अस्मिता की भी रक्षा हुई है।

भारत में आधुनिकता की बयार ऐसी चली कि यहाँ के लोगों की सामाजिकता और संस्कृति पर पश्चिमी देशों की संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। व्यक्तिगत जीवन पद्धति और पारिवारिक रचना में यूरोपीय संस्कृति गहरे तक पैठ गई। भाषा और संस्कृति का प्रवाह संग-संग होता है। अतः हिन्दी समाज में अंग्रेज़ी भाषा के व्यवहार का भी प्रचलन बढ़ा। आधुनिकता के आकर्षण से, पश्चिमी संस्कृति और सत्ता के आकर्षण से अंग्रेज़ी भाषा की ओर हिन्दी समाज का झुकाव तेजी से बढ़ा। किन्तु साहित्य अभी भी अपने भाषिक और साहित्यिक स्वरूप में हिन्दी जातीयता की रक्षा करता रहा। इसी क्रम में भारत में 1936 ई0 में प्रगतिशील

लेखक संघ की स्थापना होने के बाद जो प्रगतिवादी साहित्य रचा जाने लगा वह विदेशी विचार (मार्क्सवाद) से नियंत्रित हो रहा था। इसके फलस्वरूप हिन्दी जाति के रचनाकार के संस्कारों पर विचारधारा हावी हुई और उसके अनुभवों में एक ऐसे जीवन और जगत का परिकल्पित लोक उपस्थित हुआ जो धरती पर कहीं था ही नहीं। उस परिकल्पित लोक के पीछे भागने में रचना का साथ आलोचना ने भी दिया और हिन्दी भाषा और साहित्य का जातीय स्वरूप भी विघटन की स्थित में जा पहुँचा।

आजाद भारत को विदेशी तर्ज पर आगे ले जाने की योजनाओं में भी हिन्दी भाषा और साहित्य को उसके जातीय जड़ों से काटने का ही प्रयास किया। धीरे-धीरे हम उदारीकरण और वैश्वीकरण के दौर में आ पहुँचे, जहाँ दुनिया का स्वरूप ही बदल गया है। बड़ी मेहनत से मनुष्य ने जो समाज बनाया था वह समाज यहाँ आकर बाजार में तब्दील हो गया। अब सामाजिक प्राणी बाजारू प्राणी हो गया। उपभोक्ता संस्कृति ने व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया। उपभोग की सामर्थ्य जुटाने-बढ़ाने में लोग लग गये। इसके लिए छद्म जीवन जीने का चलन ऐसा बढ़ा कि जातीय पहचान के साथ जीना पिछड़ापन कहलाने लगा। यह बाजार की राजनीति है जिसने भारत को नयी दासता में ढकेल दिया। भारत की यह तीसरी बार पराधीन होने की दशा है, बाजार की राजनीतिक दासता। बाजार की इस दासता में हमारा खान-पान, रहन-सहन, भाषा-व्यवहार अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी संस्कृति के पूरी तरह अधीन हो गया। यह अंग्रेज़ी के आकर्षण से नहीं बल्कि बाजार के आकर्षण से हुआ। अंग्रेज़ी के आकर्षण में हम हिन्दी को छोड़कर अंग्रेज़ी भाषा व्यवहार के लिए आतुर थे जिसमें हिन्दी का स्वरूप बचा था, किन्तु बाजार के आकर्षण में हमने हिन्दी को बाजार में ऐसे ला खड़ा किया कि बाजार ने हिन्दी के साथ मनचाहा किया। हिन्दी भाषा में गैर ज़रूरी अंग्रेजी शब्दों का इस्तेमाल होने लगा। यह पुनः ध्यातव्य है कि यह अंग्रेज़ी भाषा नहीं बल्कि बाज़ारू भाषा का हिन्दी में प्रवेश था। यहीं फिर किसी महावीर प्रसाद द्विवेदी की आवश्यकता आ पड़ी किन्तु यह समय का संकट गहराता ही जा रहा है।

आज सबसे अधिक संकट की स्थिति में है हिन्दी कथा साहित्य की भाषा। कहानी में जीवन के यथार्थ स्वरूप के चित्रांकन में बाज़ारू अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग जम कर हो रहा है। सावधानी तनिक नहीं बरती जा रही है। उदाहरण के लिए किचन से खाना लाकर डाइनिंग टेबल पर रखे जाने की बात कहने के लिए यह सावधानी बरती जारी चाहिए कि 'डाइनिंग टेबल' शब्द तो चलेगा क्योंकि डाइनिंग टेबल हमारे पास नहीं था किन्तु रसोईघर तो हमारे पास था ही, तो 'किचन' लाने की क्या आवश्यकता! इतना ही नहीं संकट तो इतना गहराता जा रहा है कि 'अगेन', 'बट', 'एण्ड' तथा अंग्रेज़ी शैली रचने के लिए 'यू नो' जैसे वाक्यांश आदि का प्रयोग हिन्दी कहानी में यथार्थ रचने के नाम पर बहुत किया जा रहा है। यह गम्भीर चिन्ता का विषय है।

भारतेन्दु ने कहा था- 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल' तो यह 'निज' जातीयता की ओर संकेत करता है। किसी दूसरी भाषा से परहेज या उसकी निन्दा करने जैसी कोई बात नहीं होनी चाहिए। परन्तु अनावश्यक रूप से भाषाओं को गड्ड-मड्ड करना संस्कृतियों की विविधताधर्मी पहचान के साथ खिलवाड़ करने जैसा है। सभी भाषाएँ और संस्कृतियाँ अपने अस्तित्व के साथ बनी रहेंगी तो आवश्यकता पड़ने पर मानवता के लिए उनका उपयोग किया जा सकता है। परन्तु यदि सबको गड्ड-मड्ड कर दिया जायेगा तो आवश्यकता पड़ने पर ये ढूँढे नहीं मिलेंगी, और बाज़ार यही कर रहा है। बाजार मुनाफा कमाने के लिए कुछ भी कर सकता है किन्तु हर समय में दुनिया को संकट से उबारने के सूत्र संस्कृतियों में ही ढूँढ़े जा सकते हैं, अपनी-अपनी जातीय संस्कृतियों में। अतः सभी समाजों को अपनी-अपनी जातीयता, संस्कृति, भाषा और साहित्य का संरक्षण- संवर्धन करना वैसे ही जरूरी है, जैसे हम समाज सेवा और सामाजिक सरोकारों के लिए सोचते-करते रहने के साथ अपनी निजी जमीन को भी मजबूत किये रहते हैं। हम किसी के काम तभी आ सकेंगे जब हम होंगे। हमारे होने का अर्थ है हमारी सांस्कृतिक अस्मिता और हमारे जातीय अस्तित्व का बने रहना।

संदर्भ सूची-

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल (काल विभाग शीर्षक से)
2. काव्य भाषा : चिन्तन और सिद्धान्त, डॉ0 रविनाथ सिंह, पृ0 49
3. भाषा और समाज, रामविलास शर्मा, पृ0 66
4. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, श्रद्धा सर्ग, छन्द सं0 39)
5. भक्तिकाव्य की भूमिका, डॉ0 प्रेमशंकर, पृ0 70
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 154
7. वही, पृ0 289

◆◆◆